पुलिस : स्वरूप एवं संकट

एक संस्था के रूप में पुलिस की उत्पत्ति और विकास मुख्य रूप से राज्य के प्रभु वर्गों की सुरक्षा के साथ जुड़ी हुई है। राष्ट्र राज्य के चरित्र में होने वाले परिवर्तनों के साथ ही पुलिस के चरित्र में भी परिवर्तन आते हैं। मसलन 18वीं-19वीं शताब्दी के दौरान जब आधुनिक राष्ट्र राज्य अस्तित्व में आ रहे थे , पुलिस का मुख्य काम इस प्रक्रिया की राह में आ रही बाधाओं को दूर करना था। एक राष्ट्र में एक जैसा पुलिस संगठन राष्ट्रीयता की भावना को मजबूत करने वाला एक महत्वपूर्ण कारक बना। औपनिवेशिक समाजों, नाजी और फासिस्ट राज्यों, सोवियत रूस तथा अन्य समाजवादी मुल्कों या लोकतांत्रिक विश्व में पुलिस अपने रोल के मुताबिक विकसित हुई।

भारत में एक आधुनिक संस्था के रूप पुलिस 1861 के पुलिस एक्ट के आधार पर निर्मित हुई। यह पुलिस एक्ट तत्कालीन प्रभुओं की आवश्यकता को ध्यान में रख कर बनाया गया था। मजेदार बात है कि अंग्रेज़ों ने 50 से अधिक देशों का पुलिस संगठन खड़ा किया था और हर संगठन अपनी चारित्रिक विशेषताओं में दूसरों से भिन्न हैं। मसलन उन्होंने भारत को जैसी पुलिस दी वैसी ही श्रीलंका को नहीं दी या बर्मा में इन दोनों से अलग

चरित्र वाली पुलिस बनाई। यह दरअसल उस कहावत वाला मसला है कि प्रजा को वैसा ही राजा मिलता है जिसकी वह पात्र होती है। इस कहावत को हम इस तरह से भी कह सकते हैं कि हमें वही पुलिस मिलती है जिसके हम पात्र होते हैं। इसलिये मुझे कभी भी अस्वाभाविक नहीं लगा कि अंग्रेज जब भारत के लिये पुलिस गढ़ने चले तो उन्हें एक भ्रष्ट, कानून कायदों को अपने ठेंगे पर रखने वाली और बर्बर संस्था ही सबसे उपयुक्त लगी। यह बल लूटपाट पर आधारित उनके शासन को दीर्घायु और स्थायित्व प्रदान करने के लिए आवश्यक था। मेरे इस कथन पर स्वाभाविक रूप से कुछ लोगों को आपत्ति हो सकती है पर यदि भारतीय समाज की संरचना को गौर से देखें तो हम इस तर्क को आसानी से समझ सकेंगे।

1857 के विद्रोह को कुचलने और ईस्ट इंडिया कम्पनी से सत्ता अपने हाथ में लेने के बाद जब ब्रिटिश हुकूमत के समक्ष भारत में शांति व्यवस्था कायम करते हुए अपनी नींव मजबूत करने की चुनौती पेश हुई, वे काफी हद तक भारतीय समाज की आंतरिक संरचना से वाकिफ हो चुके थे। यह समाज मुख्य रूप से वर्ण व्यवस्था से संचालित होता था और यही कारण था कि अपनी बुनावट में काफी हद तक क्रूर और असमान था। समाज जिस भाषा का प्रयोग करता था उसमें एक क्रिया के लिये तीन रूपों का प्रयोग हो सकता था–उदाहरण के लिये आप किसी को बैठने के लिये बैठ, बैठो या बैठिये कह सकते हैं। आप किस शब्द का प्रयोग करेंगे इसका फैसला अधिकांश मामलों में सामने वाले की जाति देखकर ही होता था। वर्ण व्यवस्था इतिहास की सबसे अमानवीय व्यवस्था है , सम्भवतः गुलामी और रंगभेद से भी ज्यादा घृणित। सैकड़ों सालों से भारतीय समाज वर्ण व्यवस्था से संचालित कानूनों और परम्पराओं से चल रहा था। स्वाभाविक ही था कि अपनी आधी से भी अधिक आबादी को जानवरों से भी बदतर मानने वाले समाज में कोई ऐसी पुलिस नहीं चल सकती थी जो मानवाधिकारों का सम्मान करती हो। स्वाभाविक ही था कि 1861 में अंग्रेजों ने भारतीय समाज की ज़रूरतों और आंतरिक संरचना को ध्यान में रखकर एक पुलिस एक्ट बनाया और उसकी नींव पर एक ऐसी संस्था की नींव रखी जो काफी हद तक इतिहास में पहली बार इस विशाल भूभाग को एक जैसी कानून व्यवस्था लागू करने वाली मशीनरी बनने जा रही थी।

यह एक बड़ा दिलचस्प प्रश्न होगा कि 1947 में आजादी मिलने के बाद भी 1861 के पुलिस एक्ट और उस के आधार पर निर्मित संस्था पुलिस में कोई बुनियादी फर्क क्यों नहीं आया? आजादी के बाद हमारी सबसे बड़ी उपलब्धि एक ऐसे संविधान का निर्माण है जिसने पहली बार देश में जाति, धर्म , लिंग, भाषा या क्षेत्र पर आधारित किसी भी असमानता को नकार कर एक कल्याणकारी राज्य बनाने का प्रयास किया है। यह अपेक्षा स्वाभाविक थी कि इस परिकल्पना को साकार करने के लिये ऐसी पुलिस बनायी जाती जो राज्य के दूसरे अंगों को इस लक्ष्य की प्राप्ति में मदद करती। पर ऐसा नहीं हुआ। नये

सपनों और नयी वास्तविकताओं पर आधारित नया पुलिस एक्ट बनाने की बात तो अलग रही 1861 के पुलिस एक्ट में भी कोई बुनियादी परिवर्तन नहीं किये गये। सब कुछ पुराने ढर्रे पर चलता रहा। घोषित भूमिका के उलट कानून का पालन कराने वाली पुलिस पहले की ही तरह कानून की धज्जियां उड़ाती रही , पहले की ही तरह यह एक भ्रष्ट और मानवाधिकारों का उल्लंघन करने वाली संस्था बनी रही और पहले की ही तरह उसकी सबसे अधिक ऊर्जा हाकिमें वक्त के हितों की रक्षा करने में खर्च होती रही। ऐसा क्यों हुआ? क्या हमारे राजनेता नहीं चाहते थे कि हमारी पुलिस लोकतान्त्रिक समाज की अपेक्षाओं के अनुरूप एक सभ्य, मानवाधिकारों का सम्मान करने वाली और कानून-कायदों के अनुरूप चलने वाली संस्था बने? मेरा मानना तो यही है कि आजादी के बाद का हमारा प्रभुवर्ग नहीं चाहता था कि पुलिस के बुनियादी चरित्र में कोई फर्क आये। उसके लिये भी एक बर्बर और कानून कायदों को ठेंगे पर रखने वाली पुलिस उतनी ही जरूरी थी जितनी गौरांग महाप्रभुओं के लिये।

अपनी इस मान्यता को तर्कसंगत बनाने के लिये मैं स्वतंत्रता के फौरन बाद बनने वाले भारतीय राज्य और उसे चलाने वाले नियामक तत्वों में मौजूद अंतर्विरोधों की तरफ ध्यान आकर्षित करना चाहूंगा। कांग्रेस आजादी की लड़ाई में भाग लेने वाली सबसे महत्वपूर्ण संस्था थी। इस विवाद का कोई अर्थ नहीं है कि उसके अतिरिक्त कम्युनिस्टों, सोशलिस्टों, हिंदू महा सभाइयों या मुस्लिम लीगियों का भी उस पूरे दौर में दखल रहा है क्योंकि इन सभी विचारधाराओं के लोगों के लिये कांग्रेस एक साझा मंच की तरह थी। यही कारण है कि भारतीय समाज को समझने और उसे एक लोकतांत्रिक, प्रगतिशील और धर्मनिरपेक्ष शासन प्रणाली प्रदान करने के लिये जरूरी उपकरणों पर कांग्रेस के नेतृत्व और कतारों में कभी कोई आम सहमति नहीं बन पायी। हरि अनंता हरि कथा अनंता की तर्ज पर कांग्रेस के अंदर मौजूद हर वैचारिक समूह की समाजवाद और धर्मनिरपेक्षता को लेकर समझ न सिर्फ अलग अलग थी बल्कि कई बार तो एक दूसरे से एक दम उलट थी। इसे हम साम्प्रदायिक दंगों के दौरान अलग अलग दौर में भारतीय राज्य की प्रतिक्रिया में आये बदलावों से समझ सकते हैं। खूनी विभाजन के साये में मिली आजादी के फौरन बाद सौभाग्य से देश को पंडित नेहरू जैसा रौशन ख़याल नेतृत्व मिला जिसके कारण बावजूद इसके कि देश का बटवारा दो राष्ट्रों के सिद्धांत के आधार पर हुआ था भारत ने एक धर्म निरपेक्ष राष्ट्र बनने का फैसला किया। नेहरू के समांतर कांग्रेस में ही एक दूसरा नेतृत्व था जो भारत को हिंदू राष्ट्र के रूप में देखना चाहता था। इन दोनों विपरीत ध्रुवों की टकराहट में जब तक नेहरू की चली राज्य के विभिन्न अंग काफी हद तक धर्म निरपेक्ष बने रहे पर जैसे जैसे नेहरू शिथिल गात और क्षीण प्रभाव होते गये धर्म निरपेक्षता को लेकर उनका रवैया भी ढुलमुल होता गया। 1961 में जबलपुर में स्वतंत्रता बाद के पहले सबसे भयानक साम्प्रदायिक दंगे हुए और उसके बाद से हर दूसरे-तीसरे साल देश के किसी न किसी हिस्से में इस तरह की

हिंसा की बड़ी घटनाएं होती रहीं। इन सभी में एक अनुभव बार बार दुहराया गया हर बार पुलिस पर आरोप लगे कि उसने हिंसा के दौरान अल्पसंख्यकों को सुरक्षा प्रदान करने के लिये वो सब नहीं किया जो उससे भारतीय संविधान और भारत में लागू कानून कायदे अपेक्षा करते थे और कई मामलों में तो वो सब किया जो उसे नहीं करना चाहिये था। 1984 के सिक्ख विरोधी दंगे, बाबरी मस्जिद का ध्वंस या गुजरात दंगों के बाद भी राज्य ने दोषी पुलिस अधिकारियों के खिलाफ कोई कार्यवाही नहीं की। बार- बार मांग किये जाने अथवा जांच कमीशनों द्वारा सुझाव दिये जाने के बावजूद पुलिस के बुनियादी चरित्र में सुधार लाने के लिये कोई निर्णायक कदम नहीं उठाये गये। ऐसा सिर्फ राज्य के इस मामले में गंभीर न होने के कारण हुआ।

मैंने ऊपर सिर्फ एक उदाहरण सांप्रदायिक दंगों का दिया है। साधारण परिस्थितियों में भी पुलिस का आम आचरण कानून और मानवाधिकार विरोधी होता है। यह एक सामान्य अनुभव की बात है कि पुलिस थानों में जाने वाला कोई भी नागरिक वहां से अच्छे अनुभव लेकर नहीं लौटता। बिना सिफारिश या रिश्वत दिये आप अपना मुकदमा नहीं दर्ज करा सकते, शायद ही किसी मामले में पेशेवाराना और कानून सम्मत तरीकों से तफ्तीश होती हो , कदाचार ही पुलिस तंत्र का सबसे जाना पहचाना चेहरा है। फिर इस संगठन को सुधारने की कोशिश क्यों नहीं की जाती? इसका उत्तर सीधा है कि जो सुधार कर सकते हैं या जिनके पास पुलिस में आमूल-चूल परिवर्तन करने के अधिकार और संसाधन हैं वे नहीं चाहते कि इसका चेहरा बदले। एक क्रूर, कानून की उपेक्षा करने वाली और अपने आका के लिये कुछ भी करने को तत्पर पुलिस उनके हित में है। यह पुलिस उनके विरोधियों के हाथ-पैर तोड़ कर उन्हें झूठे मुकदमों में फंसा सकती है, उनके समर्थकों को जघन्य अपराधों में लिप्त होने के बावजूद बचा सकती है, उन्हें चुनाव जीतने में मदद कर सकती है, गरज यह कि हर गलत-सलत काम में उनके काम आती है - फिर ऐसी पुलिस को बदलने की कोशिश वे क्यों करेंगे?

पुलिस में सुधार के लिये समय-समय पर कई कमीशन बैठाये गये और उन्होंने ऐसी सिफारिशें भी दीं जो किसी भी सभ्य पुलिस के लिये जरूरी हो सकती हैं लेकिन ये सिफारिशें कभी भी मानी नही गयीं। आखिरी गम्भीर कोशिश 1977 में धर्मवीर कमीशन के रूप में हुई। कई वर्षों की मेहनत और हजारों गवाहियों के बाद जो रिपोर्ट तैयार हुई उसमें बड़े बदलाव के बीज छिपे थे। यदि इन सिफारिशों को मान लिया गया होता तो पुलिस के चरित्र में आमूल-चूल परिवर्तन हो सकते थे पर जिन्हें ये सुझाव मानने थे उनकी राय कुछ भिन्न थी। धर्मवीर कमीशन की रिपोर्ट मानने का मतलब था पुलिस पर से उनकी पकड़ समाप्त होना। एक सभ्य और कानून कायदों पर चलने वाली पुलिस उनके किसी काम की नहीं है। इसलिये सुप्रीम कोर्ट में लम्बी मुकदमेबाजी के बावजूद शाह कमीशन की रिपोर्ट लागू किये जाने का इंतजार कर रही है।

—विभूति नारायण राय